

समावेशी शिक्षा :

सुसंगत समझ के निर्माण में चुनौतियाँ

डॉ. अंकुर मदान

पिछले छह वर्षों से मैं समावेशी शिक्षा का स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम पढ़ा रही हूँ और एक प्रशिक्षक के रूप में साल दर साल मुझे अपने विद्यार्थियों के काफ़ी सन्देहों का सामना करना पड़ता है। इस पाठ्यक्रम में विद्यार्थियों को सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली की वास्तविकताओं से अवगत कराया जाता है, अतः वे इस बात से अच्छी तरह से वाकिफ़ हो जाते हैं कि भारत के अधिकांश स्कूलों का संचालन के दौरान किन अवरोधों से सामना होता है। अब तक वे ऐसी पर्याप्त कक्षाएँ देख चुके होते हैं जिनमें संसाधनों की बहुत कमी होती है। वे ऐसे शिक्षकों से मुलाकात कर चुके होते हैं जो अल्प प्रशिक्षित हैं और जिनमें स्वयं कार्य करने की कोई प्रेरणा नहीं होती। वे ऐसे बच्चों के साथ बातचीत कर चुके होते हैं जो अपने निम्न अधिगम स्तर के साथ ऐसे कठोर पाठ्यक्रम का अर्थ खोजने के लिए संघर्ष कर रहे हैं, जो उनके तात्कालिक सन्दर्भों से बहुत दूर है।

इसलिए जब मैं उन्हें समावेशी शिक्षा सम्बन्धी विचार के बारे में बताती हूँ और इसके कार्यान्वयन में समर्थन के लिए मानव अधिकारों व सामाजिक न्याय के उचित कानूनों और नीति के दस्तावेजों पर बहस को बढ़ावा देती हूँ तो वे मेरे प्रस्तावों को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। वे व्यावहारिक रूप से इन आदर्शों को साकार करने के बारे में बहुत कठिन सवाल उठाते हैं। ऐसे में मैं अपने इन विद्यार्थियों के सामने हिम्मत के साथ अपने चेहरे पर मुस्कान बरकरार रखते हुए इस मुद्दे को दृढ़ता के साथ रखने की कोशिश करती हूँ तब मुझे एक और समस्या का सामना करना पड़ता है। मैं उन्हें भारतीय सन्दर्भ में समावेशी शिक्षा की अवधारणा की एक ऐसी सुसंगत तथा स्पष्ट समझ प्रदान करने में खुद को असमर्थ पाती हूँ जो इसके कार्यान्वयन के लिए स्पष्ट दिशानिर्देशों और अनुशासनों की रूपरेखा दे सकती हो। जिन अनेक सन्दर्भों और पठन सामग्रियों (रीडिंग्स) का उपयोग मैं कक्षा में करती हूँ, वे पश्चिमी संसार की हैं, जहाँ एक अवधारणा और अभ्यास के रूप में समावेशी शिक्षा न केवल कई वर्षों तक शिक्षा के विमर्शों का हिस्सा रही है, बल्कि इसकी उत्पत्ति और अभ्यास का ऐतिहासिक सन्दर्भ हमसे बहुत अलग है।

इसलिए अपनी कक्षा में मुझे भारत में सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली में समावेशी शिक्षा के आदर्शों को लागू करने के लिए ठोस, व्यावहारिक समाधान प्रदान करने से सम्बन्धित शैक्षणिक चुनौतियों का सामना करने के साथ-साथ अपने विद्यार्थियों

को कुछ सहज सवालों के जवाब देने में भी मदद करनी होती है, जैसे : *समावेशी शिक्षा क्या है? यह किसके लिए है? इसे व्यवहार में कैसे प्राप्त किया जा सकता है?*

मैं इस लेख में समावेशी शिक्षा की एक सुसंगत समझ तक पहुँचने से सम्बन्धित कुछ अवधारणात्मक मुद्दों पर विस्तार से चर्चा करूँगी। यह बताने का प्रयास भी करूँगी कि सामाजिक, सांस्कृतिक और प्रासंगिक कारकों के व्यावहारिक विचारों के आधार पर इस समझ का निर्माण करना संगत क्यों है जिनके तहत देश में सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली अमल में है। और अन्त में सुझाव दूँगी कि समावेशी शिक्षा के अभ्यास में अभिन्न रूप से जुड़े हुए लोगों को शामिल करके इस विषय में अकादमिक अध्ययन को ज़मीनी स्तर पर किस तरह उत्पन्न किया जा सकता है।

समावेशी शिक्षा की प्रकृति पर प्रश्न करना

अब तक भारतीय सन्दर्भ में समावेशी शिक्षा पर सन्दर्भ के लिए अकादमिक और अनुभवजन्य रूप से मज़बूत स्रोतों को खोजने का संघर्ष कई स्तरों पर होता आया है। एक, भारत में समावेशी शिक्षा अभी हाल ही में लोकप्रिय हुई, जब नब्बे के दशक के उत्तरार्ध में नीति के दस्तावेजों में इसकी उपस्थिति धीरे-धीरे दर्ज होने लगी। इस बारे में बहुत थोड़ा-सा अकादमिक अध्ययन ही अब तक प्रकाशित हुआ है और सार्वजनिक रूप से सुलभ है। दो, समावेशी शिक्षा में अनुभवजन्य अनुसंधान का आधार पिछले दो दशकों में उत्पन्न हुआ है और इसलिए इसका क्षेत्र और गुणवत्ता दोनों सीमित हैं (लिंगडसे, 2007; रोज, 2017; सिंगल, 2006)। तीन, नीति दस्तावेजों में अवधारणा का निरूपण ग़लत व्याख्याओं और अस्पष्टता से भरा हुआ है, जिससे इसकी केवल एक धुँधली अवधारणात्मक समझ विकसित हो सकी है। इसके अलावा समावेशी शिक्षा को अभी भी देश में मुख्यधारा के शिक्षा विमर्श का एक अभिन्न अंग नहीं माना जाता है। इसकी इसी हाशिया स्थिति ने इसे भारत में शिक्षा अध्ययन के क्षेत्र में कोई भी नजर आने वाला उल्लेखनीय योगदान देने से रोक दिया है।

ये तो हुए भारत में समावेशी शिक्षा पर अकादमिक अध्ययन के निर्माण से सम्बन्धित विशिष्ट मुद्दे। लेकिन पश्चिमी सन्दर्भों में भी, जहाँ इस अवधारणा पर बहुत अधिक ध्यान दिया गया है, समावेशी शिक्षा की कई व्याख्याएँ मिलती हैं और यह एक

विवादास्पद धारणा बनी हुई है। आर्मस्ट्रांग, आर्मस्ट्रांग और स्पैडगॉ (2010) ने इस धारणा को स्पष्ट रूप से समझाने के लिए इस उक्ति का प्रयोग किया है कि 'समावेशन का मतलब अलग-अलग लोगों के लिए अलग-अलग है।' लेखकगण आगे इसकी जटिल प्रकृति का चित्रण करते हुए कहते हैं कि समावेशन को बेहतर रूप से इस तरह से जाना जाता है कि यह क्या नहीं है बजाय इसके कि यह क्या है।

हालाँकि समावेशी शिक्षा की एक सुसंगत परिभाषा तक पहुँचने के कई प्रयास किए गए हैं, किन्तु अकादमिक विद्वान और अभ्यासकर्ता एक आम सहमति तक पहुँचने में अन्तर्निहित कठिनाइयों की ओर इशारा करते हैं। समावेशी शिक्षा मूल रूप से क्या थी और अब यह क्या हो गई है— इन दोनों दृष्टिकोणों के बीच का विभाजन बड़ी कठिनाई पैदा करता है। इसकी उत्पत्ति का पता लगाते हुए आर्मस्ट्रांग, आर्मस्ट्रांग और स्पैडगॉ (2010) कहते हैं कि समावेशी शिक्षा पहुँच और भागीदारी के उन प्रतिबन्धों के लिए एक प्रतिक्रिया और चुनौती के रूप में पैदा हुई थी जो मुख्यधारा में शामिल करने और एकीकरण के अभ्यास के कारण सामने आ खड़े होते थे। अभिभावकों, शिक्षकों और विकलांगता के कार्यकर्ताओं द्वारा उठाए गए इस आन्दोलन ने लोकतांत्रिक और समावेशी समाज बनाने में स्कूलों की भूमिका की परिकल्पना की। लेकिन व्यवहार में सिद्धान्तों का कोई स्पष्ट समूह नहीं है जो इसके कार्यान्वयन का मार्गदर्शन करे। समावेशी शिक्षा को केवल बयानबाजी तक सीमित कर दिया गया है जो मूल मार्गदर्शी सिद्धान्तों के साथ किसी भी गम्भीर सम्बन्ध के बिना समावेशी विमर्श के कुछ 'अच्छा लगने' वाले पहलुओं को अंगीकार करती है। इसलिए समावेशी शिक्षा की परिभाषाएँ वास्तविक अभ्यासों के विवरणों बनाम जो होना चाहिए के आधार पर बदलती हैं (इंस्कोउ और अन्य, 2006)।

इसी तरह की समस्या कुछ परिभाषाओं में भी है जो या तो बहुत संकीर्ण हैं या बहुत व्यापक हैं, या आंशिक हैं— उन विद्यार्थियों के समूह के आधार पर जिनके लिए यह समावेशी शिक्षा है।

परिभाषाओं की बहस के इतर, ग्राहम और स्लीव (2007) जैसे लेखकों ने कुछ बुनियादी सवाल उठाए हैं और वे उम्मीद करते हैं कि समावेशी शिक्षा के शिक्षक और अभ्यासकर्ता समावेशी शिक्षा की प्रकृति और इसके अभ्यास के बारे में जानकारी प्राप्त करने के दौरान इन प्रश्नों के उत्तर देने की कोशिश करेंगे। ऑस्ट्रेलिया में मौजूदा प्रथाओं की जाँच के द्वारा शुरू की गई एक प्रबल आलोचना में लेखक निम्नलिखित प्रश्न उठाते हैं : समावेशन की बात करने का क्या मतलब है, यह समावेशी होने से कैसे भिन्न हो सकता है और जिन

अभ्यासों से समावेशन किया जा सकता है वे किनके लिए हितकारी होंगे?

इन सवालों पर चिन्तन करने से पर्याप्त रूप से यह स्पष्ट हो जाता है कि समावेशी शिक्षा की अपर्याप्त समझ उस खिंचाव या तनाव से उत्पन्न होती है जो इसके वैचारिक और अवधारणात्मक गठन बनाम व्यवहार में इसकी प्राप्ति के बीच मौजूद है। जैसा कि आर्मस्ट्रांग, आर्मस्ट्रांग और स्पैडगॉ (2010) संकेत देते हैं कि समावेशन किसके लिए, किसमें और किस उद्देश्य के लिए जैसे प्रश्नों का उत्तर देने के बाद, हमें यह भी पूछना चाहिए कि समावेशी अभ्यास क्या है? चूँकि वांछनीय (वैचारिक) साध्य (अभ्यास) से अलग हो सकता है।

नीति में समावेशी शिक्षा

जैसे-जैसे हम इस विरोधाभास को दूर करने के लिए संघर्ष करते हैं, वैसे-वैसे एक और आयाम इस मुद्दे को अधिक जटिल बना देता है— वह है नीति दस्तावेजों में समावेशी शिक्षा का निरूपण। यह आयाम भारतीय सन्दर्भ में विशेष रूप से प्रासंगिक है। भारत में समावेशी शिक्षा शब्द का इस्तेमाल नीतिगत दस्तावेजों और योजनाओं, जैसे कि नब्बे के दशक में पीआईईडी, डीपीईपी, पीडब्ल्यूडी और एसएसए (2000) में किया गया था। इसके लिए 1994 में स्पेन में सलामांका स्टेटमेंट द्वारा बहुत प्रोत्साहन प्रदान किया गया, जिसमें भारत एक हस्ताक्षरकर्ता था (चौधरी, 2011)। तथापि भारत में समावेशी शिक्षा एक ऐसी अवधारणा के रूप में सामने आई जिसे पश्चिम से मुख्य रूप से अपनी खुशफहमी, बाल-केन्द्रित और 'रोमांटिक अपील' (सिंगल, 2005; शर्मा, 2010; अलूर, 2007) के लिए ग्रहण किया गया था। सिंगल (2006) का कहना है कि भारत में समावेशी शिक्षा के साथ पर्याप्त रूप से जुड़ाव नहीं हुआ है। वे आगे बताती हैं कि कई नीतिगत दस्तावेजों के साथ-साथ समावेशन पर प्रारम्भिक लेखों में एकीकरण और समावेशन शब्दों का उपयोग वैकल्पिक रूप से किया गया था, जिससे बहुत अस्पष्टता पैदा हुई और गलत अर्थ का निरूपण हुआ।

इसके अलावा उस समय शुरू की गई योजनाओं में भी एक दोहरा दृष्टिकोण अपनाया गया था, जिसमें एक तरफ तो विकलांग बच्चों की शिक्षा को नियमित स्कूलों में लागू किया गया और दूसरी तरफ विशेष स्कूलों को भी बढ़ावा दिया जाता रहा। वास्तव में समावेशी शिक्षा को विकलांग बच्चों की शिक्षा के लिए उपलब्ध कई विकल्पों में से केवल एक विकल्प के रूप में देखा गया था, न कि स्कूलों में सुधार लाने के तरीके के रूप में (लिंगसे, 2007)। इसलिए समावेशी शिक्षा के केवल अस्पष्ट विचार प्रदान करने वाले नीतिगत दस्तावेजों के कारण कई मौलिक प्रश्नों, जैसे कि समावेशी शिक्षा क्या है या

समावेशी अभ्यासों में क्या शामिल है, के आसान उत्तर नहीं मिल सके।

इन मुद्दों की जाँच करते समय एक बड़ा सवाल उठाया जा सकता है कि फिर ज्ञान के वैध स्रोत कौन-से हैं जो समावेशी शिक्षा की समझ में योगदान कर सकते हैं?

अकादमिक अध्ययन को प्रासंगिक सन्दर्भों में स्थित करना

जैसा कि लेख के पूर्व भाग में कहा गया है, भारत में समावेशी शिक्षा एक ऐसी घटना प्रतीत होती है जिसे पश्चिम से उधार लिया गया था और वह भी इस अवधारणा के साथ पर्याप्त आलोचनात्मक जुड़ाव बनाए बिना (सिंगल, 2006)। अतः इसके मूल, उद्देश्य और अनुप्रयोग के कई महत्वपूर्ण पहलू उपेक्षित ही रह गए और इसकी केवल आंशिक समझ ही विकसित हो पाई जिससे कई व्याख्याओं और निरूपणों की सम्भावना पैदा हो गई।

जैसे-जैसे हम आगे बढ़ेंगे, यह आवश्यक होगा कि इस क्षेत्र में विकसित होने वाला कोई भी अकादमिक अध्ययन भारत की अनूठी ऐतिहासिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विविधता के साथ-साथ इसके जटिल शैक्षिक परिदृश्य की प्रकृति को भी ध्यान में रखे। कई विद्वानों ने इस रवैये की पुष्टि की है (लिंगसे, 2007; राव, 2001; रोज, 2017; सिंगल, 2006)। मैं कुछ दृष्टान्तों के साथ इस दृष्टिकोण को प्रमाणित करती हूँ।

मूल का पता लगाना

पश्चिमी संसार में समावेशन की उत्पत्ति का पता लगाते हुए राव (2011) बताते हैं कि विकसित संसार में, परम्परागत रूप से, विकलांग बच्चों को विशेष स्कूलों में भर्ती कराया जाता था। जैसे-जैसे विकलांगता का सामाजिक मॉडल विकसित होता गया, समावेशन को अलगाव की बाधाओं पर क्राबू पाने और अ-संस्थानीकरण के साधन के रूप में देखा जाने लगा। मार्गदर्शी सिद्धान्तों के रूप में साम्यता और सामाजिक न्याय के साथ समावेशन स्कूल सुधार का प्रतीक बन गया। हालाँकि भारत जैसे देशों में, जहाँ विशेष स्कूल कभी आदर्श नहीं थे, संस्थागत अलगाव को समावेशी शिक्षा के लिए एक मजबूत तर्काधार के रूप में इस्तेमाल नहीं किया जा सकता था।

इसी कारण से, यह आर्थिक तर्क भी बहुत सही नहीं है कि भारत में समावेशी शिक्षा इसलिए अनिवार्य है क्योंकि भारत शिक्षा की समानान्तर प्रणालियों का निर्माण नहीं कर सकता है। राव विशेष शिक्षा पद्धतियों, जिन्हें बस पश्चिम से स्थानान्तरित कर लिया जाता है, की तरह समावेशन के भी एक और 'प्रवृत्ति' बनने के खिलाफ चेतावनी देते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि

पश्चिमी समाज में जिस आधार पर समावेशी शिक्षा ने सफलता प्राप्त की, वह हमारे लिए मजबूत तर्काधार नहीं हो सकता। इसलिए यदि हम समावेशन को अपनाते हैं तो इसकी वजह भी उन उद्देश्यों से उत्पन्न होनी चाहिए जो हमारे ऐतिहासिक और सामाजिक-आर्थिक क्षेत्र में अन्तर्निहित हैं।

इसी तरह समावेशी शिक्षा की समझ विकसित करने के लिए, भारत में विकलांग बच्चों की स्थिति से सम्बन्धित मुद्दों को ऐतिहासिक और सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टिकोण से समझना अत्यन्त महत्वपूर्ण है। भारत में जाति, वर्ग और धार्मिक अन्तरों से सम्बन्धित अनूठी विविधता एक जटिल सन्दर्भ है, जिसके भीतर समावेशी शिक्षा की परिकल्पना और अभ्यास किया जाना चाहिए। मैं अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए कुछ पहलुओं का संक्षेप में उल्लेख करूँगी।

भारत में विकलांगता

घई (2015) का कहना है कि भारत में विकलांगता की कोई एकीकृत परिभाषा नहीं है। उनका मानना है कि भारतीय सन्दर्भ में विकलांगता के अर्थ को समझने के लिए हमें सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को समझना होगा। इसकी जड़ें पौराणिक और धार्मिक मान्यताओं में मजबूती से जमी हुई हैं, जिसमें विकलांगता और विकलांग लोगों को बुरा, दोषपूर्ण या अलौकिक क्षमताओं वाला माना जाता है। यही वजह है कि विकलांगता की धारणा को विविध और जटिल अर्थ दे दिए जाते हैं। इसके अलावा ऐतिहासिक दृष्टिकोणों के बारे में व्यवस्थित अनुसंधान की कमी के कारण, समकालीन संरचनाओं ने विकलांग लोगों को चिकित्सीय मॉडल की प्रबलता के कारण नकारात्मक पहचान के रूप में चित्रित किया है। क्योंकि चिकित्सीय मॉडल में एक विकलांग व्यक्ति की पहचान केवल उसकी हालत और उसमें जो 'कमी' है वहीं तक सिमटकर रह जाती है (घई, 2001)। आगे वे समाज में विकलांगता वाले लोगों को हाशिए पर रखने पर दुख प्रकट करते हुए कहती हैं :

‘उनका जीवन असहाय निराशावाद, राजनीतिक जड़ता और अपर्याप्त सामाजिक नवाचारों के दुष्चक्र में उलझा रहता है, जो दीर्घकालिक समाधान की पेशकश नहीं करते।’

विकलांगता का एक महत्वपूर्ण पहलू जिसे भारतीय सन्दर्भ में नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता, वह है गरीबी के साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध। भारत जैसे विकासशील देशों में दुर्बलता और असमर्थता का सबसे बड़ा कारण गरीबी है। विकलांगों और उनके परिवारों के जीवन पर इसका प्रभाव संरचनात्मक और व्यावहारिक अवरोधों का कारण बनता है जो अत्यधिक शक्तिहीनता और अरक्षितता की भावनाओं को जन्म देता है (घई, 2001)। गरीबी, लिंग, जाति और ग्रामीण-शहरी विभाजन से विकलांगता को जो हानि पहुँचती है, वह

कलंक और ठप्पा लगाने (लेबलिंग) से और अधिक बढ़ जाती है। इससे देश में विकलांग लोगों की संख्या का सही-सही आकलन करने में जटिलताएँ पेश आती हैं। साथ ही विभिन्न प्रकार की विकलांगता को सूचित करने के लिए कई श्रेणियों और असंगत शब्दावली का उपयोग करने की समस्याएँ भी हैं। भारत में विकलांग बच्चों की शिक्षा पर किसी भी प्रामाणिक चर्चा में इन सभी कारकों पर विचार करने को प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

शिक्षा का परिदृश्य

भारत की शिक्षा प्रणाली में विविधता और विशालता की परतें हैं। यहाँ स्कूली आयु वर्ग के बच्चों की संख्या संसार भर में सबसे अधिक है और प्राथमिक शिक्षा प्रणाली का अनुपात बहुत बड़ा है और शायद संसार भर के नीति-निर्माताओं और योजनाकारों के लिए इसकी कल्पना करना कठिन है (लिटिल, 2010 जैसा कि सिंगल, 2014 में उद्धृत है)। हाल के वर्षों में कई महत्वपूर्ण नीति और विधायी चिह्नों या मार्करों (जैसे कि एसएसए, 2001 और आरटीई, 2009) की प्रेरणा से भारत ने अपने लगभग 98 प्रतिशत बच्चों को स्कूलों में दाखिला दिलाने में जबरदस्त सफलता हासिल की है (यूनिसेफ, 2015)। तथापि प्रतिधारण, पर्याप्त संसाधनों के आवंटन और वितरण, शिक्षक-शिक्षा के मुद्दे और सबसे महत्वपूर्ण बात शिक्षा की गुणवत्ता आदि चिन्ता का कारण बने हुए हैं।

जाति और लिंग, बहिष्करण के महत्वपूर्ण आयामों के रूप में सामने आते हैं, जिनमें निचली जातियों के बच्चों, खासकर लड़कियों के स्कूल छोड़ देने का जोखिम अधिक होता है (सिंगल, 2014)। कम शुल्क लेने वाले लेकिन खराब गुणवत्ता वाले निजी स्कूलों की बढ़ती लोकप्रियता के विपरीत सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली में बच्चों को बनाए रखने का संघर्ष एक और प्रणालीगत चुनौती है जो भारतीय शिक्षा के परिदृश्य पर मँडरा रही है। स्कूल आने वाले विकलांग बच्चों पर उपलब्ध डेटा अत्यधिक विरोधाभासी और असंगत है। यूनेस्को और टीआईएसएस (2019) की हालिया रिपोर्ट के अनुसार भारत में 19 वर्ष से कम आयु के लगभग 78 लाख बच्चे विकलांग हैं। इनमें से, 5 साल तक बच्चों में से तीन-चौथाई और 5-19 आयु वर्ग में एक चौथाई बच्चे किसी भी शैक्षिक संस्थान में दाखिल नहीं होते हैं। विकलांग बच्चों द्वारा स्कूल छोड़ने की सम्भावना समाज के अन्य वंचित वर्गों, जैसे अनुसूचित जाति और जनजाति, के बच्चों की तुलना में पाँच गुना अधिक है (सिंगल, 2014)। इस परिदृश्य में शिक्षा प्रणाली के भीतर प्रणालीगत चुनौतियों की अनदेखी करना या सिर्फ विकलांग बच्चों के सीमित दृष्टिकोण से समावेशी शिक्षा को देखना, प्रतिकूल साबित होने वाला है। इस तरह के

संकुचित दृष्टिकोण से देश न तो सभी के लिए शिक्षा के अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है और न ही विकलांग बच्चों की शिक्षा को सार्थक और सशक्त बनाने की परिकल्पना की जा सकती है। देश में समावेशी शिक्षा के किसी भी विचार के लिए इन सभी कारकों को पहचानना अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

समावेशी शिक्षा में अकादमिक अध्ययन की रचना करना

मेरा निवेदन यह है कि बेकद्री और गरीबी के कारण जिन मान्यताओं और अत्यधिक उपेक्षा का सामना भारत के बहुसंख्यक विकलांग लोग करते हैं और उसके साथ भारतीय शिक्षा प्रणाली की विविध व जटिल प्रकृति जिस पारिस्थितिक ढाँचे का निर्माण करती है, उसके अन्तर्गत ही समावेशी शिक्षा की प्रकृति का निर्माण किया जाना चाहिए।

इसके अलावा ऐसा अकादमिक अध्ययन जो ज़मीनी स्तर से विकसित होता हो, केवल तभी उत्पन्न हो सकता है जब शोधकर्ता और अभ्यासकर्ता दोनों एक साथ मिलकर सहयोगी के रूप में कार्य करते हैं। तब वे समावेशी अभ्यास के बारे में एक ऐसे ज्ञान का निर्माण करते हैं जो इसमें शामिल लोगों के वास्तविक जीवन के अनुभवों के करीब है। यह ज्ञान नीति-निर्माताओं, प्रशासकों, अभिभावकों और शिक्षकों को समावेशी शिक्षा की एक साझा समझ विकसित करने में विभिन्न स्तरों पर योगदान दे सकता है। ऐसी समावेशी शिक्षा, जो उन लोगों की आवश्यकताओं का ध्यान रखे जिनको इसकी ज़रूरत है। विशेष रूप से इस तरह के अध्ययन ऐसे वैचारिक परिवर्तन और नज़रिए को बदलने पर ध्यान केन्द्रित कर सकते हैं जो स्कूलों को सैद्धान्तिक और व्यावहारिक रूप से समावेशन को अपनाने में सक्षम बनाते हैं, जैसे अधिगम के लिए बहिष्करण सम्बन्धी रुकावटें कैसे दूर की जाती हैं, शिक्षकों और अन्य हितधारकों को शिक्षण की विविध आवश्यकताओं वाले बच्चों के साथ काम करने के लिए कैसे तैयार किया जाता है, हितधारकों से सहयोग की माँग कैसे की जाती है और शासन-प्रणाली के मुद्दों, वित्त तथा पाठ्यक्रम और आकलन की कठोरता से कैसे निपटा जाता है (मदान, 2018)।

विद्यार्थियों के तीखे सवालों के ठोस जवाब देने की चुनौती तब तक बनी रहेगी जब तक कि समावेशी शिक्षा में अच्छे तरीकों के पर्याप्त उदाहरण यह प्रदर्शित नहीं करते कि सभी अवरोधों के बावजूद समावेशी शिक्षा के लक्ष्यों को कैसे प्राप्त किया जा सकता है। इस बीच यह आवश्यक है कि शोधकर्ता, शिक्षक, प्रशासक, नीति नियोजक और शिक्षाविद मिलकर कार्य करें और समावेशी शिक्षा की एक ऐसी सुसंगत समझ बनाएँ जो इसके सामाजिक-सांस्कृतिक सन्दर्भ में सन्निहित हो, अभ्यास द्वारा सूचित हो और इसकी प्राप्ति में योगदान देती हो।

References

- Ainscow, M, Booth, T & Dyson, A. (2006). *Improving Schools, Developing Inclusion*. London: Routledge.
- Alur, M. (2007). *The Lethargy of a Nation: Inclusive Education in India*, in L. Barton and F. Armstrong, (eds.). *Policy, experience and change: Cross-cultural reflections on inclusive education*, pp. 91-106. Dordrchet: Springer.
- Armstrong, A.C., Armstrong, D. & Spandagou, I. (2010). *Inclusive Education: International Policy and Perspective*. London: Sage.
- Ghai, A. (2015). *Rethinking Disability in India*. London: Routledge.
- Ghai, A. (2001). *Marginalization and disability: Experiences from the Third World*, in M. Priestley (Ed.). *Disability and the Life Course: Global Perspectives*. Cambridge University Press.
- Graham, L. J., and Slee, R. (2008). *An Illusory Interiority: Interrogating the Discourses of Inclusion*. *Educational Philosophy and Theory*, Vol.40, No. 2.
- Lindsay, K. G. (2007). *Inclusive Education in India: Interpretation, implementation and issues*. *Create Pathways to Access*, 15. University of Sussex.
- Madan, A. (2018). *Inclusive Education in India: Concept, Practice and the Way Forward*, in A. Ghai, (Ed.). *Disability in South Asia: Knowledge and experience*. London: Sage.
- Rao, S. (2001) 'A Little Inconvenience': *Perspectives of Bengali Families of Children with Disabilities on Labelling and Inclusion*, *Disability & Society*, 16:4, pp. 531-548.
- Singal, N. (2014). *Entry, Engagement and Empowerment: Dilemmas for Inclusive Education in an Indian Context*, in L. Florian (Ed.). *The Sage Handbook of Special Education*, Vol 1. (pp.203-216). London: Sage.
- Singal, N. (2006). *Inclusive Education in India: International Concept, National Interpretation*. *International Journal of Disability, Development and Education*, Vol. 53, No. 3, pp. 351–369.
- Singal, N. (2005). *Mapping the Field of Inclusive Education: A Review of the Indian Literature*. *International Journal of Inclusive Education*, 9:4, 331-350, DOI: 10.1080/13603110500138277
- UNESCO (2019). *N for Nose: State of the Education Report India: Children with Disabilities*. New Delhi: UNESCO.
- UNICEF (2015). Retrieved from: <https://www.oxfamindia.org/education/Still-too-many-children-out-of-school>.



डॉ. अंकुर मदान अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय, बेंगलूरु में पढ़ाती हैं। उनके शिक्षण और शोध का क्षेत्र बाल विकास और समावेशी शिक्षा है। उनसे ankur.madan@apu.edu.in पर सम्पर्क किया जा सकता है।
अनुवाद : नलिनी रावल